इन सबकी सूचनाओं से भरे पड़े होते हैं और हम उनको पढ़ने तथा देखने में अधिक रस लेते हैं। इनके दर्शन और प्रदर्शन से हमारी जीवनदृष्टि ही विकृत हो चुकी है, आज सच्चरित्र व्यक्तियों एवं उनके जीवन वृत्तान्तों की सामान्य रूप से, इन माध्यमों के द्वारा उपेक्षा की जाती है। अत: नैतिक मूल्यों और सदाचार से हमारी आस्था उठती जा रही है।

इन विकृत परिस्थितियों में यदि मनुष्य के चरित्र को उठाना है और उसे सन्मार्ग एवं नैतिकता की ओर प्रेरित करना है तो हमें अपने अध्ययन की दृष्टि को बदलना होगा। आज साहित्य के नाम पर जो भी है वह पठनीय है, ऐसा नहीं है। आज यह आवश्यक है कि सत्-साहित्य का प्रसारण हो और लोगों में उसके अध्ययन की अभिरुचि जागृत हो। यही सच्चे अर्थ में स्वाध्याय है।

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र- संपा०- रतनलाल दोशी, प्रका०- श्रमणोपासक जैन पुस्तकालय, सैलाना, वीर सं० २४७८, ३२/२-३।
२. आवश्यकनिर्युक्ति (हरिभद्रीय वृत्ति), संपा०- बी० के० कोठारी, प्रका० रिलीजियस ट्रस्ट, बम्बई, १९८१, ८८-८९।
३. उत्तराध्ययनसूत्र, २९/२०-२४।
४. स्थानांगसूत्र, संपा०- मधुकर मुनि, प्रका०— श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८१, ५/३/२२३।
५. वही- ५/३/२२४।
६. तत्त्वार्थराजवार्तिक, संपा०- डॉ० महेन्द्रकुमार जैन, प्रका०- भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५७, ९/२५।
७. उत्तराध्ययनसूत्र, संपा०-रतनलाल दोशी, प्रका०- श्रमणोपासक जैन पुस्तकालय, सैलाना, वीर सं० २४७८, २६/११,१२,१७,१८।

•

जैन धर्म में भक्ति की अवधारणा

जैनधर्म में भक्ति की अवधारणा का विवेचन करने के पूर्व यह विचार करना आवश्यक है कि 'भक्ति' शब्द का तात्पर्य या अर्थ क्या है और वह जैनधर्म में किस अर्थ में स्वीकृत है। भक्ति शब्द 'भज्' धातु में क्तिन् प्रत्यय लगकर बना है। 'भज्' धातु का अर्थ है—सेवा करना। किन्तु यथार्थ में भक्ति शब्द का अर्थ इससे कहीं अधिक व्यापक है। सामान्यतया आराध्य या उसके विग्रह की गुणसंकीर्तन, स्तुति, वन्दना, प्रार्थना, पूजा और अर्चा के रूप में जो सेवा की जाती है, उसे हम भक्ति नाम देते हैं। यद्यपि यह स्मरण रखना है कि सब क्रियायें भी तब तक भक्ति नहीं कही जा सकती हैं, जब तक इनके मूल में आराध्य के प्रति पूज्यबुद्धि, श्रद्धा, अनुराग और समर्पण का भाव नहीं हो। जैनाचार्य पूज्यपाद देवनन्दी ने भक्ति की व्याख्या निम्न रूप में की है[१]—

अर्हदाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः।

अर्थात् अर्हत्, आचार्य, बहुश्रुत एवं आगम के प्रति भावविशुद्धि पूर्वक जो अनुराग है, वह भक्ति है। प्रो० रामचन्द्र शुक्ल ने प्रेमपूर्ण श्रद्धा को भक्ति कहा है। कुछ विद्वानों ने इसे आराध्य और आराधक के मध्य एक रागात्मक सम्बन्ध माना है। किन्तु मेरी दृष्टि में भक्ति शब्द का तात्पर्य इन सबसे अधिक है।

यह सत्य है कि भक्ति का उदय उपास्य और उपासक या भक्त और भगवान् के बीच एक दूरी या द्वैत में ही होता है, किन्तु इसकी चरम निष्पत्ति इस द्वैत को समाप्त करने में ही है। जैसे-जैसे भक्त और भगवान् या आराध्य और आराधक के मध्य की यह दूरी सिमटती जाती है और एक ऐसा समय आता है जब व्यक्ति उस द्वैत को समाप्त कर स्वयं में भगवत्ता की अनुभूति कर लेता है। यही भक्ति का परिपाक है, यहाँ ही वह पूर्णता को प्राप्त होती है। जैन धर्म की विशेषता यही है कि उसमें भक्ति का प्रयोजन इस द्वैत या दूरी को समाप्त करना ही माना गया है।

जैनों के अनुसार यह द्वैत तब ही समाप्त होता है, जब भक्त स्वयं भगवान् बन जाता है। यद्यपि हमें स्मरण रखना होगा कि अनीश्वरवादी एवं प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता मानने वाले जैन दर्शन में इस द्वैत के समाप्त होने का अर्थ अद्वैत वेदान्त की तरह भक्त की वैयक्तिक सत्ता का ब्रह्म में विलय नहीं है। साथ ही जैनदर्शन द्वैतवादियों या विशिष्टाद्वैतवादियों की तरह यह भी नहीं मानता है कि भक्ति की चरम निष्पत्ति में भी भक्त और भगवान् का द्वैत बना रहता है, चाहे वह सारूप्य मुक्ति को ही क्यो न प्राप्त कर लें।

जैनदर्शन के अनुसार भक्ति की चरम निष्पत्ति आत्मा द्वारा अपने ही निरावरण शुद्ध स्वरूप या परमात्म स्वरूप को प्राप्त करना है अर्थात् स्वयं परमात्मा बन जाना है। यह स्वयं के द्वारा स्वयं को पाना है।

भक्ति और प्रेम

सामान्यतया भक्ति में अनुराग या प्रेम को एक आवश्यक तत्त्व माना गया है। परमात्मा के प्रति निश्छल प्रेम भक्ति का आधार है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या वीतरागता के उपासक जैन धर्म में भक्ति की अवधारणा के साथ प्रेम को अपरिहार्य माना जा सकता है। यह सत्य है कि अनुराग या प्रेम की उत्कटता ही भक्ति का रूप लेती है किन्तु एक ओर राग के प्रहाण या वीतरागदशा की प्राप्ति का प्रयास और दूसरी ओर अनुराग या प्रेम की साधना—ये दोनों एक साथ कैसे सम्भव है? वीतरागता का साधक राग या अनुराग से कैसे जुड़ सकता है। यद्यपि यह भी सत्य है कि जैन परम्परा में जहाँ भक्ति भाव की अभिव्यक्ति हुई है, वहाँ किसी न किसी रूप में तीर्थंकर प्रभु के प्रति प्रेम या अनुराग की चर्चा अवश्य हुई है। जैन परम्परा में राग दो प्रकार का माना गया है—

(१) प्रशस्त राग और (२) अप्रशस्त राग।

यदि हम भक्ति को रागात्मक सम्बन्ध या अनुराग मानते हैं तो जैन धर्म में भक्ति का स्थान इसी प्रशस्त राग के अन्तर्गत हो सकता है। किन्तु ऐसा प्रशस्त राग भी जैन साधना का आदर्श नहीं माना जा सकता है। जैन परम्परा में गौतम से अधिक श्रेष्ठ भक्त और कौन हो सकता है? महावीर के प्रति उनकी अनन्य भक्ति या अनुराग लोकविश्रुत है। किन्तु जैन विचारक यह मानते हैं कि ऐसा प्रशस्त राग भी मोक्ष-मार्ग के पथिक के लिए बाधक ही है। गौतम की महावीर के प्रति यह अनन्य भक्ति या रागात्मकता उनकी मोक्ष प्राप्ति में बाधक ही मानी गयी है। वे महावीर के जीवित रहते वीतरागदशा या कैवल्य को उपलब्ध नहीं कर सके। महावीर ने स्वयं कहा था कि स्नेह या अनुराग तो मोक्ष मार्ग में एक अर्गला है।[२] जैन परम्परा में भक्ति श्रद्धा पर आधारित तो मानी गयी, किन्तु उसे राग या प्रेम रूप में स्वीकार नही किया गया। यह एक अलग बात है कि परवर्ती जैनाचार्यों ने भक्ति के इस रागात्मक स्वरूप को अपनी परम्परा में स्थान दिया। यह भी ठीक है कि एक भावुक आदमी वासनात्मक प्रेम या अप्रशस्त राग से छुटकारा पाने के लिए प्रशस्त राग का सहारा ले, किन्तु अन्ततोगत्वा हमें यही मानना होगा कि वीतरागता की उपासक जैन परम्परा में रागात्मकता को भक्ति का आधार नहीं माना जा सकता है। प्रेम चाहे कैसा भी हो, वह बन्धन है। अत: उसे अतिक्रान्त करना आवश्यक है।

श्रद्धा और भक्ति

भक्ति में श्रद्धा का तत्त्व प्रमुख होता है, किन्तु हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि श्रद्धा एवं भक्ति में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर भी है। श्रद्धा और भक्ति में मुख्य अन्तर तो यह है कि जहाँ श्रद्धा आराध्य अथवा सिद्धान्त अथवा दोनों के प्रति हो सकती है, वहीं भक्ति सदैव ही आराध्य के प्रति होती है, सिद्धान्त के प्रति नहीं। सिद्धान्त के प्रति तो मात्र श्रद्धा/आस्था होती है, भक्ति नहीं, क्योंकि भक्ति वैयक्तिक (Personal) होती है। पुन: जहाँ भक्ति के लिए श्रद्धा आवश्यक तत्त्व है, वहाँ श्रद्धा के लिए भक्ति आवश्यक नहीं होती। अपने प्रचलित अर्थ की दृष्टि से श्रद्धा और भक्ति में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह भी है कि श्रद्धा मात्र एक निष्क्रिय भावदशा है, वह किसी के प्रति अनन्य निष्ठा की द्योतक है और वह निष्ठा सिद्धान्त अथवा व्यक्ति किसी के प्रति भी हो सकती है। श्रद्धा कारण है, भक्ति कार्य। भक्ति तो श्रद्धा की बाह्याभिव्यक्ति है, वह चित्त की सक्रिय भावदशा है। पूज्य-बुद्धि और पूजा में जो अन्तर है वही अन्तर श्रद्धा और भक्ति में है। श्रद्धा पूज्य-बुद्धि है, पूजा नहीं। पूजा पूज्य-बुद्धि की बाह्याभिव्यक्ति है। सत्य तो यह है कि श्रद्धा जब सक्रिय होकर क्रियात्मक रूप में बाह्य जगत् में अभिव्यक्त होती है, तो वह भक्ति बन जाती है। वह श्रद्धा एवं कर्म का समन्वय है। वह श्रद्धा युक्त कर्म है। निर्गुण भक्ति में भी चाहे प्रतिमा-पूजा या अर्चना न हो, किन्तु नाम-स्मरण, संकीर्तन आदि कर्मों तथा विह्वलता आदि भावों की बाह्य अभिव्यक्ति तो है ही , श्रद्धा और भक्ति दोनों ही वैयक्तिक है, सार्वजनिक नहीं। फिर भी श्रद्धा नितान्त वैयक्तिक है, मात्र चैत्तसिक है, उसे किसी भी स्थिति में सामूहिक नहीं बनाया जा सकता है, वहाँ भक्ति के नाम संकीर्तन, पूजा आदि रूपों में बाह्य अभिव्यक्ति सम्भव होने से उसे सामूहिक या सार्वजनिक बनाया जा सकता है। यदि हम भक्ति के घटकों की चर्चा करें तो उसमें श्रद्धा, प्रेम, समर्पण, नाम-स्मरण, स्तुति, विग्रह-पूजा और सेवा सभी समाहित हैं। इस प्रकार भक्ति एक व्यापक परिप्रेक्ष्य को अभिव्यक्त करती है। श्रद्धा तो भक्ति का अंग मात्र है, भक्ति में श्रद्धा आवश्यक है, किन्तु श्रद्धा भक्ति के रूप ले, यह आवश्यक नहीं है। जैन धर्म में जब हम भक्ति की चर्चा करते हैं तो हमें श्रद्धा एवं भक्ति के इस अन्तर को दृष्टिगत रखना होगा, क्योंकि जैनधर्म मूलत: निवृत्तिपरक है, अत: उसमें श्रद्धा की ही प्रधानता रही है। पुन: जैन धर्म निरीश्वरवादी है, अत: उसमें श्रद्धा या भक्ति का केन्द्र सृष्टिकर्त्ता या जगत् नियन्ता ईश्वर न होकर शुद्धात्मस्वरूप वीतराग दशा ही रही है। उसकी श्रद्धा के केन्द्र हैं—देव (वीतरागदशा प्राप्त व्यक्ति), गुरु और धर्म। किन्तु जैन धर्म में जैसे ही प्रतीकोपासना या जिन-प्रतिमा की पूजा की परम्परा स्वीकृत हुई, उसमें तीर्थंकर-प्रतिमा की उपासना के साथ भक्ति के अन्य पक्षों का विकास प्रारम्भ हो गया।

भारत में भक्ति की अवधारणा का विकास

भारतीय धर्मदर्शन के क्षेत्र में भक्ति की अवधारणा अति प्राचीन काल से उपस्थित रही है। मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा से प्राप्त हुई सीलों के परिदृश्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उस समय भी मूर्ति-पूजा या प्रतीक-पूजा अस्तित्व में थी और इस दृष्टि से यह मानने में कोई बाधा नहीं है कि उस युग में किसी न किसी रूप में भक्ति की अवधारणा भी उपस्थित थी। यदि हम वैदिक साहित्य की ओर मुड़ते हैं, तो उसमें भी जो ऋग्वेदादि प्राचीन स्तर के ग्रन्थ हैं, उनमें चाहे मूर्ति-पूजा या विग्रह-पूजा का निर्देश नहीं हो, किन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता है कि वहाँ भक्ति की अवधारणा पूर्णतया अनुपस्थित है, क्योंकि ऋग्वेद के सूक्तों में भी स्तुति सम्बन्धी सूक्त ही सर्वाधिक हैं। स्तुति के साथ भी पूज्य-बुद्धि और श्रद्धा का तत्त्व तो जुड़ा ही होता है। इसलिए हम यह कह सकते हैं कि वैदिक काल में चाहे विग्रह-पूजा या मूर्ति-पूजा न रही हो, किन्तु श्रद्धा व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्तुति के रूप में उसमें भक्ति के तत्त्व तो हैं ही। आगे चलकर औपनिषदिक काल और विशेष रूप से गीता के रचनाकाल में तो हमें भक्ति की एक सुस्थापित परम्परा उपलब्ध होती है। गीता में जिन योगों (साधना-विधियों) की चर्चा मिलती है, उसमें भक्तियोग सबसे महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि गीता की ज्ञानयोगपरक एवं कर्मयोगपरक व्याख्याएँ भी की गयीं, किन्तु यदि हम गीता की अन्तरात्मा में झांककर देखें तो लगता है कि उसमें भक्ति या समर्पण भाव ही केन्द्रिय तत्त्व है। कर्म की निष्कामता का आधार भी कर्म-फल की आकांक्षा का प्रभु के प्रति समर्पण ही है। यह बात अलग है कि गीता ज्ञान एवं कर्म को भी समान रूप से महत्त्व देती है, किन्तु उसमें इन्हें भी भक्ति के कारण व कार्य के रूप में व्याख्यायित किया जा सकता है। परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान, जो कि गीता के ज्ञानयोग का प्रतिपाद्य है, अन्ततोगत्वा प्रभु के प्रति अनन्य निष्ठा में परिणित होता है। दूसरी ओर गीता यह कहती है कि श्रद्धावान ही प्रभु के ज्ञान को प्राप्त होता है।[३] पुनः गीता का कर्मयोग भी वस्तुतः परमात्मा के प्रति न केवल कर्मफल या पूर्ण समर्पण है अपितु समर्पित भाव से उसके आदेशों का परिपालन भी है। गीता लोकसेवा को भी प्रभु की सेवा में अर्न्तभावित कर कर्मयोग को भक्तियोग बना देती है। गीता में ज्ञान वह है जिससे भक्ति की धारा प्रसूत होती है और कर्म उस भक्ति की व्यापक बाह्याभिव्यक्ति है। यही कारण है कि रामानुज, वल्लभ आदि भक्तिमार्गी आचार्यों ने गीता की भक्तिपरक व्याख्या प्रस्तुत की। अतः हम यह कह सकते हैं कि भारत में प्रारम्भिक काल से लेकर सूर व तुलसी के माध्यम से आधुनिक काल तक भक्ति की एक अजस्र धारा प्रवाहित होती रही है और जैन परम्परा भी इससे प्रभावित होती रही है।

जैन धर्म में भक्ति

जैन दर्शन में भक्ति की अवधारणा के विकास को समझने के लिए भक्ति के भारतीय परिप्रेक्ष्य को समझना आवश्यक है, क्योंकि जैन धर्म में भक्ति का जो विकास हुआ वह इन समसामयिक परिस्थितियों से अप्रभावित नहीं रहा है। जैन धर्म की भक्ति-साधना में अन्य परम्पराओं से आये तत्त्व आज इस तरह आत्मसात् हो गये हैं कि उन्हें अलग कर पाना भी कठिन है।

जैन धर्म में साहित्यिक साक्ष्य के रूप में जो प्राचीनतम सन्दर्भ उपलब्ध हैं, वे आचारांग, सूत्रकृतांग, ऋषिभाषित और उत्तराध्ययन पर आधारित हैं। इनमें आचारांग एवं सूत्रकृतांग में भक्ति तत्त्व अनुपस्थित है। आचारांगसूत्र[४] मात्र यह बताता है कि मेरी आज्ञा का पालन धर्म है (१/६/२/४८)। ऋषिभाषित और उत्तराध्ययन में यद्यपि श्रद्धा को स्थान मिला है, किन्तु वह श्रद्धा मात्र तत्त्वश्रद्धा है। जैन धर्म में सम्यग्दर्शन, जो भक्ति का आधार है, प्रारम्भ में मात्र तत्त्वश्रद्धा ही रहा है। देव, गुरु एवं धर्म के प्रति श्रद्धा यह उसका परवर्ती अर्थ विकास है। पुरातात्त्विक साक्ष्यों में तो हमें मौर्यकाल से ही जैन परम्परा में मूर्ति-पूजा के प्रमाण मिलने लगते हैं। मथुरा में तो मूर्ति-पूजा के परिदृश्य भी अंकित हैं। अतः यह मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं है कि ऐतिहासिक दृष्टि से जैन परम्परा में भक्ति की अवधारणा मौर्यकाल में पल्लवित एवं विकसित हुई है। पुनः इस दिशा में जो भी साक्ष्य उपलब्ध हैं वे सब इसी तथ्य को संपोषित करते हैं कि जैन धर्म में भक्ति का विकास अपनी सहवर्ती हिन्दू परम्परा से प्रभावित होता रहा है। हिन्दू परम्परा में भक्ति के विविध रूपों का जिस प्रकार क्रमिक विकास हुआ है उसी प्रकार जैन परम्परा में भी भक्ति का क्रमिक विकास हुआ है। फिर भी जैन और हिन्दू धर्म की मूलभूत दार्शनिक अवधारणाओं में जो अन्तर है उसके आधार पर दोनों की भक्तियों की अवधारणा में और उसके लक्ष्य में भी अन्तर है। यह स्पष्ट है कि जहाँ हिन्दू धर्म ईश्वरवादी है वहीं जैन धर्म निरीश्वरवादी है। उसमें सृष्टि के निर्माता और पालनकर्त्ता तथा संहारक ईश्वर की अवधारणा पूर्णतः अनुपस्थित है। दूसरा अन्तर यह है कि जहाँ हिन्दू धर्म का ईश्वर कृपा के माध्यम से अपने भक्तों के कल्याण की सामर्थ्य रखता है वहाँ जैन धर्म के सिद्ध परमात्मा निष्क्रिय हैं। वे न तो अपने भक्तों का कल्याण कर सकते हैं और न दुष्टों का दमन। जैन धर्म में भक्ति का तत्त्व उपस्थित तो है, किन्तु वह हिन्दू परम्परा में उपलब्ध भक्ति की अवधारणा से किंचित भिन्न है, आगे हम इस सन्दर्भ में विस्तार से विचार करेंगे। सामान्यतया जैन भक्ति परम्परा में श्रद्धा, सर्मपण, गुण-संकीर्तिन या भजन, पूजा और अर्चा या सेवा के तत्त्व उपस्थित रहे हैं। श्रद्धा उसका प्रस्थान-बिन्दु है और सेवा अन्तिम चरण है। श्रद्धा एवं सर्मपण-भाव उसके मानसिक रूप हैं और सेवा उसकी कायिक अभिव्यक्ति। अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि जैन धर्म में इन तत्त्वों का विकास कैसे हुआ ?

जैनधर्म में भक्ति की अवधारणा कैसे व किस रूप में आयी यह विचार करना भी आवश्यक है। जहाँ तक मेरी जानकारी है आगमों में सत्थारभक्ति[५] 'भत्तिचित्ताओ'' (ज्ञाताधर्म) शब्द मिलते हैं। सर्वप्रथम ज्ञाताधर्म में तीर्थकर पद की प्राप्ति में सहायक जिन २० कारणों की चर्चा है उनमें श्रुतभक्ति (सुयभत्ति) का स्पष्ट उल्लेख है। इसके साथ ही उसमें अरहंत, सिद्ध, प्रवचन, गुरु, स्थविर, तपस्वी आदि के प्रति वत्सलता का उल्लेख हुआ है, जो भक्ति का ही एक रूप है।[६] तत्त्वार्थसूत्र में अर्हत् आचार्य, बहुश्रुत एवं प्रवचन (शास्त्र) की भक्ति को तीर्थकरत्व प्राप्त करने के १६ कारणों में परिगणित किया गया है।[७]

इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्ञाताधर्मकथा और आवश्यकनिर्युक्ति[८] जहाँ अर्हत्, सिद्ध, आचार्य आदि के प्रति वत्सलता अर्थात् अनुराग की बात करते हैं, वहाँ तत्त्वार्थसूत्र स्पष्ट रूप से इनकी भक्ति की बात कहता है, किन्तु भक्ति और वात्सल्य में अर्थ की दृष्टि से अन्तर नहीं माना जा सकता है। आगे चलकर तो वात्सल्य को भक्ति का एक अंग ही मान लिया गया है। ज्ञातव्य है कि भक्ति या वात्सल्य दोनों का अर्थ श्रद्धायुक्त सेवा भाव ही है। आवश्यकनिर्युक्ति में सर्वप्रथम भक्ति के फल की चर्चा हुई है।[९] उसमें कहा गया है कि—

भत्तीइ जिणवराणं खिज्जंती पुव्वसंचिया कम्मा
आयरिअनमुक्कारेण विज्जा मंता य सिज्झंति
भत्तीइ जिणवराणं परमाए खीणपिज्जदोसाणं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आरूग्गबोहिलाभं समाहिमरणं च पावंति ।

अर्थात् जिन की भक्ति से पूर्व संचित कर्म क्षीण होते हैं और आचार्य से नमस्कार के विद्या और मंत्र सिद्ध होते हैं। पुन: जिनेन्द्र की भक्ति से राग-द्वेष समाप्त होकर आरोग्य, बोधि और समाधि लाभ होता है।

भारतीय परम्परा में नवधा भक्ति का उल्लेख मिलता है[१०]—

श्रवणं कीर्तनं स्मरणं पादसेवनम्।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।

१. श्रवण, २. कीर्तन, ३. स्मरण, ४. पादसेवन, ५. अर्चन, ६. वंदन, ७. दास्य, ८. सख्य और ९. आत्मनिवेदन।

भक्ति के इन नव तत्त्वों में कौन किस रूप में जैन परम्परा में मान्य रहा है, इसका संक्षिप्त विवरण अपेक्षित है। इनमें से श्रवण शास्त्र-श्रवण या जिनवाणी-श्रवण के रूप में जैन परम्परा में सदैव ही मान्य रहा है। उसमें कहा गया है कि व्यक्ति को कल्याण-मार्ग और पाप-मार्ग का बोध श्रवण से ही होता है, दोनों को सुनकर ही जाना जाता है।[११] जहाँ तक कीर्तन एवं स्मरण का प्रश्न है, इन दोनों का अन्तर्भाव जैन परम्परा के 'स्तवन' में होता है। इसे षडावश्यकों अर्थात् श्रमण एवं श्रावक के कर्त्तव्यों में दूसरा स्थान प्राप्त है। पादसेवन और वंदन को भी जैन परम्परा के तृतीय आवश्यक कर्त्तव्य के रूप में वंदन में अन्तर्निहित माना जा सकता है। अर्चन को जैन परम्परा में जिन-पूजा के रूप में स्वीकृत किया गया है। जैन परम्परा में मुनि के लिये भाव-पूजा और गृहस्थ के लिये द्रव्य-पूजा का विधान है। जिस प्रकार वैष्णव परम्परा में पंचोपचार-पूजा और षोडशोपचार-पूजा का विधान है उसी प्रकार जैन परम्परा में अष्टप्रकारी पूजा और सतरहभेदी पूजा का विधान है।

यद्यपि दास, सख्य एवं आत्मनिवेदन रूप भक्ति की विधाओं का स्पष्ट प्रतिपादन तो प्राचीन जैन आगमों में नहीं मिलता है किन्तु जिनाज्ञा के परिपालन, आत्मालोचन तथा वात्सल्य के रूप में इनके मूल तत्त्व जैन परम्परा में उपलब्ध हैं। भक्ति के इन अंगों की विस्तृत चर्चा अग्रिम पंक्तियों में की गई है।

जैन धर्म में श्रद्धा

जैन परम्परा में श्रद्धा के लिए सामान्यतया सम्यक् दर्शन शब्द प्रचलित है। इसका मूल अर्थ तो देखना या अनुभूति ही है, किन्तु आगे चलकर जैन परम्परा में दर्शन शब्द श्रद्धा के अर्थ में रूढ़ हो गया। जैन ग्रन्थों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि दर्शन शब्द का श्रद्धापरक अर्थ एक परवर्ती विकास है और उसके प्रकारों के वर्गीकरण के परिणाम स्वरूप अस्तित्व में आया है। जैन धर्म में सम्यक् दर्शन के मुख्यत: दो प्रकार माने गये हैं—निसर्गत: और अधिमगज। सम्यक् दर्शन का एक रूप वह होता है, जहाँ साधक अपनी अनुभूति से सत्य का साक्षात्कार करता है। 'सत्य का साक्षात्कार' ही सम्यक् दर्शन का मूल अर्थ है, किन्तु यह तब तक सम्भव नहीं है जब तक व्यक्ति अपने को राग-द्वेष के पंजों से मुक्त नहीं कर लेता। जब तक व्यक्ति साधक अवस्था में है राग-द्वेष का अतिक्रमण कर लेना सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में यह माना गया है कि जब तक व्यक्ति स्वयं सत्य का साक्षात्कार न कर लें, उसे वीतराग परमात्मा, जिन्होंने स्वयं सत्य का साक्षात्कार किया है, उनके कथनों पर विश्वास करना चाहिए। जैन साहित्य में सम्यक्-दर्शन के जिन पाँच अंगों की चर्चा मिलती है, उनमें श्रद्धा भी एक है। लगभग उत्तराध्ययन (ई०पू० ३री-२री शती) के काल तक जैन परम्परा में सम्यक् दर्शन का श्रद्धापरक अर्थ स्वीकार हो चुका था। किन्तु हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि उत्तराध्ययन एवं तत्त्वार्थसूत्र (ई० सन् ३री शती) के काल तक जैन धर्म में श्रद्धा तत्त्वश्रद्धा थी। वह जिन या परमात्मा के प्रति श्रद्धा के रूप में सुस्थापित नहीं हुई थी। प्राचीन स्तर के ग्रन्थों में श्रद्धा को तत्त्व श्रद्धा या सिद्धान्त के प्रति निष्ठा के रूप में ही देखा गया। किन्तु जब श्रद्धा के क्षेत्र में तत्त्व या सिद्धान्त के स्थान पर व्यक्ति को प्रमुखता दी गयी, तो जिन और जिनवचन के प्रति श्रद्धा ही सम्यक् दर्शन का प्रतीक मानी गयी। आगे चलकर जिनवचन के प्रस्तोता गुरु के प्रति भी श्रद्धा को स्थान मिला। इस प्रकार श्रद्धा का अर्थ हुआ–देव, गुरु एवं धर्म के प्रति श्रद्धा।

जैन साधना के क्षेत्र में सामान्यतया दर्शन (श्रद्धा) को प्राथमिकता दी गई है। कहा गया है धर्म दर्शन (श्रद्धा) मूलक है। जब तक दर्शन शब्द अनुभूति या दृष्टिकोण का सूचक रहा तब तक दर्शन को ज्ञान की अपेक्षा प्रधानता मिली, किन्तु जब दर्शन का अर्थ तत्त्व श्रद्धा मान लिया गया तो उसका स्थान ज्ञान के बाद निर्धारित हुआ। उत्तराध्ययनसूत्र[१२] में जहाँ दर्शन का श्रद्धापरक अर्थ किया गया है वहाँ स्पष्ट रूप से कहा है कि ज्ञान से तत्त्व के स्वरूप को जानें और दर्शन के द्वारा उस पर श्रद्धा करें। यह सत्य है कि ज्ञान के अभाव में जो श्रद्धा होगी उसमें संशय की सम्भावना होगी, अत: ऐसी श्रद्धा अंध-श्रद्धा होगी। यह सत्य है कि जैनों ने श्रद्धा को अपनी साधना में स्थान दिया किन्तु वे इस सन्दर्भ में सर्तक रहे कि श्रद्धा को ज्ञानाधिष्ठित होना चाहिए। श्रद्धा, प्रज्ञा और तर्क से समीक्षित होकर ही सम्यक् श्रद्धा बन सकती है।[१३] इस प्रकार जैन चिन्तन में भक्ति के मूल आधार श्रद्धा के तत्त्व को स्थान तो मिला, किन्तु उसे अनुभूति या ज्ञान से समन्वित किया गया, ताकि श्रद्धा अन्ध-श्रद्धा न बन सके। जैन धर्म में श्रद्धा मूलत: तत्त्व-श्रद्धा या सिद्धान्त के प्रति आस्था रही। उसमें जो वैयक्तिकता का तत्त्व प्रविष्ट हुआ और वह देव तथा गुरु के प्रति श्रद्धा बनी है, उसके मूल में रहे हुए हिन्दू परम्परा के प्रभाव को विस्मृत नहीं किया जा सकता है। हिन्दू परम्परा में जो ईश्वर के प्रति अथवा उसके वचन के रूप में वेदादि के प्रति जो आस्था की बात कही गई थी, उसे जैन आचार्यों ने जिनवाणी के प्रति श्रद्धा के रूप में ग्रहीत करके अपनी परम्परा में स्थान दिया। फिर भी यह स्मरण रखना होगा भक्ति की अवधारणा का विकास जिस रूप में हिन्दू धर्म में हुआ, उस रूप में जैन धर्म में नहीं हुआ है। जैनाचार्यों ने अपनी तात्त्विक मान्यताओं के आधार पर ही अपनी परम्परा में भक्ति के स्वरूप को निर्धारित किया है। उन्होंने अपनी सहवर्ती हिन्दू परम्परा से बहुत कुछ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रहण किया, किन्तु उसे अपनी तत्त्व योजना के चौखटे में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, यद्यपि कहीं-कहीं इसमें स्खलना भी हुई है।

जैन धर्म में स्तुति, गुण-संकीर्तन एवं प्रार्थना का प्रयोजन

जैन धर्म में भक्ति के जो दूसरे रूप स्तुति, गुण-संकीर्तन, प्रार्थना आदि हैं, उनका स्वरूप वर्तमान में तो बहुत कुछ हिन्दू परम्परा के समान ही हो गया है और जैन भक्त भी अपने प्रभु से सब कुछ माँगने लगा है। किन्तु अपने प्राथमिक रूप में जैन स्तुतियों का हिन्दू परम्परा की स्तुतियों से एक अन्तर रहा है। हिन्दू परम्परा अपने प्राचीन काल से ही इस तथ्य में विश्वास करती रही है कि स्तुति या भक्ति के माध्यम हम जिस प्रभु की आराधना करते हैं, वह प्रसन्न होकर हमारे कष्टों को मिटा देता है। उसमें ईश्वरीय या देवीकृपा का तत्त्व सदैव ही स्वीकृत रहा है। गीता में भक्त और भक्ति के चार रूपों की चर्चा है—१. अर्थार्थी, २. आर्त, ३. जिज्ञासु एवं ४. ज्ञानी। यद्यपि गीता ने जिज्ञासु या ज्ञानी को ही सच्चा भक्त निरूपति किया है, किन्तु भक्ति का जो रूप हिन्दू धर्म में प्रचलित रहा है, उसमें ईश्वरीय या दैवीय कृपा की प्राप्ति का प्रयोजन तो सदैव ही प्रमुख रहा है, किन्तु जैनधर्म में उसको कोई खास स्थान नहीं है, क्योंकि जैनों का परमात्मा किसी का कल्याण या अकल्याण करने में समर्थ नहीं है।सामान्यतया व्यक्ति दुःख या पीड़ा की स्थिति में उससे त्राण पाने के लिए प्रभु की भक्ति करता है। वह भक्ति के नाम पर भगवान् से भी कोई सौदा ही करता है। वह कहता है कि यदि मेरी अमुक मनोकामना पूर्ण होगी तो मैं आप की विशिष्ट रूप से पूजा करुँगा या विशिष्ट प्रसाद समर्पित करुँगा। चूँकि जैन धर्म में प्रारम्भ से ही तीर्थंकर को वीतराग माना गया है, अतः वह न तो भक्तों का कल्याण कर सकता है और न दुष्टों का संहार। जहाँ गीता तथा अन्य ग्रन्थों में प्रभु के अवतरण का मुख्य प्रयोजन दुष्टों का संहार एवं धर्म-मार्ग की स्थापना माना गया है, वहाँ जैन परम्परा में तीर्थंकर का उद्देश्य मात्र धर्म-मार्ग की संस्थापना करना है। जैनों का परमात्मा गीता के परमात्मा के समान इस प्रकार का कोई आश्वासन नहीं दे पाता है कि तुम मेरे प्रति पूर्णतः समर्पित हो जाओ, मैं तुम्हें सब पापों से मुक्ति दूँगा। जैन धर्म में प्राचीन काल में स्तुति का प्रयोजन प्रभु से कुछ पाना नहीं रहा है। स्तुति के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए आचार्य समन्तभद्र अपने ग्रन्थ देवागमस्तोत्र में कहते हैं कि—

हे प्रभु ! न तो मैं आपको प्रसन्न करने के लिए आपकी भक्ति या पूजा करता हूँ क्योंकि मैं जानता हूँ कि आप वीतराग हैं अतः मेरी पूजा से प्रसन्न होने वाले नहीं है।

इसी प्रकार आप निन्दा करने पर कुपित भी नही होंगे चूँकि आप विवान्त-वैर हैं, मै तो आप की भक्ति केवल इसलिए करता हूँ कि आप के पुण्य गुणों की स्मृति से मेरा चित्त पाप रूपी मल से रहित होगा।

स्मरण रखना चाहिए कि जैन विचारधारा के अनुसार साधना के आदर्श के रूप में जिनकी स्तुति की जाती है, उन आदर्श पुरुषों से किसी प्रकार की उपलब्धि की अपेक्षा नहीं होती। तीर्थंकर एवं सिद्ध परमात्मा मात्र साधना के आदर्श हैं। वे न तो किसी को संसार से पार करा सकते हैं और न उसकी किसी प्रकार की उपलब्धि में सहायक होते हैं। फिर भी स्तुति के माध्यम से साधक उनके गुणों के प्रति अपनी श्रद्धा को सजीव बना लेता है। साधक के सामने उनका महान् आदर्श जीवन्त रूप में उपस्थित हो जाता है। वह अपने हृदय में तीर्थंकरों के आदर्श का स्मरण करता हुआ आत्मा में एक आध्यात्मिक पूर्णता की भावना प्रकट करता है। वह विचार करता है कि आत्मतत्त्व के रूप में मेरी आत्मा और तीर्थंकरों की आत्मा समान ही है, यदि मैं स्वयं प्रयत्न करूँ, तो उनके समान ही बन सकता हूँ। मुझे अपने पुरुषार्थ से उनके समान बनने का प्रयत्न करना चाहिए। जैन मान्यता तो यह है कि व्यक्ति अपने ही प्रयत्नों से अपना आध्यात्मिक उत्थान या पतन कर सकता है। स्वयं पाप से मुक्ति होने का प्रयत्न न करके केवल भगवान् से मुक्ति की प्रार्थना करना जैन विचारणा की दृष्टि से सर्वथा निरर्थक है। ऐसी विवेक शून्य प्रार्थनाओं ने मानव जाति को सब प्रकार से हीन, दीन एवं परापेक्षी बनाया है। जब मनुष्य किसी ऐसे उद्धारक में विश्वास करने लगता है, जो उसकी स्तुति से प्रसन्न होकर उसे पाप से उबार लेगा, तो ऐसी निष्ठा से सदाचार की मान्यताओं को भी गहरा धक्का लगता है। जैन विचारकों की यह स्पष्ट मान्यता है कि केवल तीर्थंकरों की स्तुति करने से मोक्ष एवं समाधि की प्राप्ति नहीं होती, जब तक कि मनुष्य स्वयं उसके लिए प्रयास न करे।

जैन विचारकों के अनुसार तीर्थंकर तो साधना मार्ग के प्रकाशस्तम्भ हैं। जिस प्रकार गति करना जहाज का कार्य है, उसी प्रकार साधना की दिशा में आगे बढ़ना साधक का कार्य है। जैसे प्रकाश-स्तम्भ की उपस्थिति में भी जहाज समुद्र में बिना गति के उस पार नहीं पहुँचता, वैसे ही केवल नाम-स्मरण या भक्ति साधक को निर्वाण-लाभ नहीं करा सकती, जब तकर्कि उसके लिए सम्यक् प्रयत्न न हो। हमें स्मरण रखना चाहिए कि जैन परम्परा में भक्ति का लक्ष्य आत्मा के शुद्ध-स्वरूप का बोध या साक्षात्कार है, अपने में निहित परमात्मशक्ति को अभिव्यक्त करना है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं[१४]—"सम्यग्ज्ञान और आचरण से युक्त हो निर्वाणाभिमुख होना ही गृहस्थ और श्रमण की वास्तविक भक्ति है। मुक्ति को प्राप्त पुरुषों के गुणों का कीर्तन करना व्यावहारिक भक्ति है। वास्तविक भक्ति तो आत्मा को मोक्षपथ में योजित करना है। राग-द्वेष एवं विकल्पों का परिहार करके विशुद्ध आत्मतत्त्व से योजित होना ही वास्तविक भक्ति-योग है। ऋषभ आदि सभी तीर्थंकर इसी भक्ति के द्वारा परमपद को प्राप्त हुए हैं।" इस प्रकार भक्ति या स्तवन मूलतः आत्मबोध है, वह अपना ही कीर्तन और स्तवन है। जैन दर्शन में भक्ति के सच्चे स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उपाध्याय देवचन्द्रजी लिखते हैं—

अज-कुल-गत केशरी लहेरे, निज पद सिंह निहाल।
तिम प्रभु भक्ति भवी लहेरे, आतम शक्ति संभाल।।

जिस प्रकार अज कुल में पालित सिंहशावक वास्तविक सिंह के दर्शन से अपने प्रसुप्त सिंहत्व को प्रकट कर लेता है, उसी प्रकार

Jain Education International	For Private & Personal Use Only	www.jainelibrary.org

साधक तीर्थंकरों के गुणकीर्तन या स्तवन के द्वारा निज में जिनत्व की शोध कर लेता है, स्वयं में निहित परमात्मशक्ति को प्रकट कर लेता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि जैन साधना में भगवान् की स्तुति निरर्थक है। जैन साधना यह स्वीकार करती है कि भगवान् की स्तुति प्रसुप्त अन्तश्चेतना को जाग्रत करती है और हमारे सामने साधना के आदर्श का एक जीवन्त चित्र उपस्थित करती है। इतना ही नहीं, वह उस आदर्श की प्राप्ति के लिए प्रेरणा बनती है। जैन विचारकों ने यह भी स्वीकार किया है कि भगवान् की स्तुति के माध्यम से मनुष्य अपना आध्यात्मिक विकास कर सकता है। यद्यपि प्रयत्न व्यक्ति का ही होता है, तथापि साधना के आदर्श उन महापुरुषों का जीवन उसकी प्रेरणा का निमित्त होता है। उत्तराध्ययनसूत्र (२९/९०) में कहा है कि स्तवन से व्यक्ति की दर्शन-विशुद्धि होती है। यह भी कहा है कि भगवद्भक्ति के फलस्वरूप पूर्वसंचित कर्मों का क्षय होता है। यद्यपि इसका कारण परमात्मा की कृपा नहीं, वरन् व्यक्ति के दृष्टिकोण की विशुद्धि ही है। आचार्य भद्रबाहु ने इस बात को बड़े ही स्पष्ट रूप में स्वीकार किया है कि भगवान् के नाम-स्मरण से पापों का पुंज नष्ट होता है।[१५] आचार्य विनयचन्द्र भगवान् की स्तुति करते हुए कहते हैं—

पाप-पराल को पुंज वण्यो अति, मानो मेरू आकारो।
ते तुम नाम हुताशन सेती, सहज ही प्रजलत सारो।।

इस प्रकार जैन धर्म में स्तुति या गुण-संकीर्तन को पाप का प्रणाशक तो माना गया किन्तु इसे ईश्वरीय कृपा का फल मान लेना उचित नहीं है। जैन धर्म के अनुसार व्यक्ति के पापों के क्षय का कारण परमात्मा की कृपा नहीं, किन्तु प्रभु स्तुति के माध्यम से हुए उसके शुद्ध आत्म-स्वरूप का बोध है। प्रभु की स्तुति के माध्यम से जब साधक अपने शुद्ध आत्म स्वरूप को जान लेता है, अपनी शक्ति का पहचान लेता है तो वह ज्ञाता-द्रष्टा भाव में अर्थात् आत्म-स्वभाव में स्थित हो जाता है। फलत: वासनायें स्वत: ही क्षीण होने लगती हैं। इस प्रकार जैन धर्म में स्तुति से पापों का क्षय और आत्मविशुद्धि तो मानी गई किन्तु इसका कारण ईश्वरीय कृपा नहीं, अपितु अपने शुद्ध स्वरूप का बोध माना गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परम्परा में स्तवन या गुण-संकीर्तन के रूप में जिस भक्ति तत्त्व का विकास हुआ, वह निष्काम भक्ति का ही एक रूप था।

जैनधर्म और सकाम भक्ति

निष्काम भक्ति की यह अवधारणा आदर्श होते हुए भी सामान्यजन के लिए दु:साध्य ही है। सामान्यजन एक ऐसे भगवान् की कल्पना करते हैं जो प्रसन्न होकर उसके दु:खों को दूर कर उसे इहलौकिक सुख प्रदान कर सके। यही कारण रहा कि जैन धर्म में स्तुति की निष्कामता धीरे-धीरे कम होती गयी और स्तुतियाँ तथा प्रार्थनायें ऐहिक लाभ के साथ जुड़ती गयीं। जैन परम्परा में स्तुति का सबसे प्राचीन रूप सूत्रकृतांग (ई०पू०४थी-३री शती) के छठें अध्ययन में 'वीर-स्तुति' के नाम से उपलब्ध है। इसमें महावीर के गुणों का संकीर्तन तो है किन्तु उसमें कही भी कुछ प्राप्त करने की कामना नहीं की गई है। इसी प्रकार शक्रस्तव अर्थात् इन्द्र के द्वारा की गई तीर्थंकर की स्तुति के नाम से जाने वाले 'नमोत्थुणं' नामक स्तोत्र (ई० पू० ३री शती) में भी अरहंत एवं तीर्थंकर के गुणों का चित्रण होते हुए भी उनसे कहीं कोई उपलब्धि की आकांक्षा प्रदर्शित नहीं की गई है। जहाँ तक मुझे स्मरण है, जैन परम्परा में सर्वप्रथम परमात्मा या प्रभु से कोई याचना की गयी तो वह चतुर्विंशतिस्तवन (ई० सन् १ली शती) में है। इस स्तवन में सर्वप्रथम प्रभु से आरोग्य, बोधि और समाधि की याचना की गयी है। इसमें भी बोधि एवं समाधि तो आध्यात्मिक प्रत्यय है, किन्तु आरोग्य को चाहे आध्यात्मिक साधना में आवश्यक माना जाय फिर भी वह एक लौकिक प्रत्यय ही है। प्रभु से आरोग्य की कामना करना यह सूचित करता है कि जैन परम्परा की भक्ति की अवधारणा में अपनी सहवर्ती हिन्दू परम्परा का प्रभाव आया है, क्योंकि जैन दार्शनिक मान्यता के अनुसार तो प्रभु किसी को आरोग्य भी प्रदान नहीं करते है। अरहंत के रूप में वह हमें मोक्ष-मार्ग या मुक्ति-पथ का मात्र बोध कराते है, उसे भी चल कर पाना तो हमें ही होता है। अतः इस चतुर्विंशति स्तवन में जो आरोग्य की कामना है वह निश्चित रूप से जैन परम्परा पर अन्य परम्परा के प्रभाव का सूचक है। भविष्य में तो इस प्रकार अन्य प्रयत्न भी हुए। जैन परम्परा में उवसग्गहर स्तोत्र भी पर्याप्त रूप से प्रसिद्ध है। यह सामान्यतया भद्रबाहु द्वितीय की कृति मानी जाती है। इसमें प्रभु से भक्त को उपसर्ग से छुटकारा दिलाने की प्रार्थना की गई है। जिन विपत्तियों की चर्चा है उनमें ज्वर, सर्पदंश आदि भी सम्मिलित हैं। यह स्तोत्र इस बात का प्रमाण है कि जैन परम्परा में भक्ति का सकाम स्वरूप भी अन्ततोगत्वा विकसित हो ही गया। यद्यपि जैन आचार्यो ने यहाँ जिन की स्तुति के साथ पार्श्व-यक्ष की स्तुति को भी जोड़ दिया है।

वस्तुत: जब आचार्यो ने देखा होगा कि उपासकों को जैन धर्म में तभी स्थित रखा जा सकता है, जब उन्हें उनके भौतिक मङ्गल का आश्वासन दिया जा सके। चूँकि तीर्थङ्कर द्वारा किसी भी स्थिति में भक्तों के भौतिक मङ्गल की कोई सम्भावना नहीं थी, इसलिए तीर्थङ्कर के शासन-संरक्षक देवों के रूप में शासन देवता (यक्ष-यक्षी) की कल्पना आयी और इस रूप में हिन्दू परम्परा के ही अनेक देव-देवियों को न केवल समाहित किया गया, अपितु यह भी माना गया कि उनकी उपासना या भक्ति करने पर वे प्रसन्न होकर भौतिक दु:खों को दूर करते हैं। यक्ष-यक्षिणियों के जैन धर्म में प्रवेश के साथ ही उसमें हिन्दू धर्म की कर्म-काण्डपरक तान्त्रिक उपासना पद्धति भी कुछ संशोधनों एवं परिवर्तनों के साथ समाहित कर ली गई।

जैन स्तोत्र साहित्य में संस्कृत में जो सुन्दर स्तुतियाँ लिखी गईं उनमें सिद्धसेन दिवाकर की द्वात्रिंशिकाएँ तथा समन्तभद्र के देवागम आदि स्तोत्र प्रसिद्ध हैं। संस्कृत में रचित ये स्तुतियाँ न केवल जिन-स्तुति हैं, अपितु जिन-स्तुति के ब्याज से प्रचलित दार्शनिक मान्यताओं की सुन्दर समीक्षा भी हैं। इन स्तुतियों में जैन धर्म का दार्शनिक स्वरूप अधिक उभरकर सामने आया है। इसलिए इन स्तुतियों को भक्तिपरक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कम और दर्शनपरक अधिक माना जा सकता है।

आठवीं-नवीं शती के पश्चात् जिन भक्तिपरक स्तोत्रों की रचना जैन परम्परा में हुई, उनमें भक्तामरस्तोत्र, कल्याणमंदिरस्तोत्र आदि प्रसिद्ध हैं। यद्यपि ये स्तोत्र जैन परम्परा में सकाम भक्ति की अवधारणा के विकास के बाद ही रचित हैं। इनमें पद-पद पर लौकिक कल्याण की प्रार्थनाएँ भी हैं। परवर्ती काल में तो मरू-गुर्जर, पुरानी हिन्दी आदि में बहुत सी स्तुतियाँ लिखी गईं, जिनमें आध्यात्मिक कल्याण के साथ-साथ लौकिक कल्याण की प्रार्थना की गई। आनन्दघन और देवचन्द जैसे कवियों की चौबीसियाँ भक्तिरस से ओत-प्रोत हैं। मध्यकाल में विष्णुसहस्रनाम के समान जैन परम्परा में भी जिनसहस्रनाम जैसे ग्रन्थ लिखे गए। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परम्परा में स्तुतियों एवं स्तुतिपरक साहित्य की रचना अति प्राचीनकाल से लेकर वर्तमान युग तक जीवित रही है और हजारों की संख्या में भक्ति गीत लिखे गये जिनका सम्पूर्ण विवरण प्रस्तुत करना इस लेख में सम्भव नहीं है।

यद्यपि जैन धर्म में सकाम स्तुतियों या प्रार्थनाओं के रूप यत्र-तत्र परिलक्षित होते हैं, किन्तु वीतरागता और मुक्ति की आकांक्षी जैन परम्परा में फलाकांक्षा से युक्त सकाम भक्ति का कोई स्थान नहीं हो सकता है, यह हमें स्मरण रहना चाहिए, क्योंकि जैन परम्परा में फलाकांक्षा को शल्य (कांटा) कहा गया है। फलाकांक्षा सहित भक्ति को निदान-शल्य कहा गया है। जैन परम्परा में भक्ति का यथार्थ आदर्श क्या है? इसे जैन कवि धनञ्जय ने निम्न शब्दों में अभिव्यक्त किया है —

इति स्तुतिं देव विधाय दैन्याद्, वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि।
छाया तरुं सश्रयत: स्वत: स्यात् कश्छाया याचितयाऽऽत्मलाभ:।
अथास्ति दिघ्त्सा यदिवोपरोध: त्वय्येव सक्तां दिश भक्ति बुद्धिं।
करिष्यते देव तथा कुपां मे, को वात्मपोष्ये सुमुखो न सूरी:।

"हे प्रभु! इस प्रकार आपकी स्तुति करके मैं आपसे कोई वरदान नहीं मांगना चाहता हूँ, क्योंकि कुछ मांगना तो एक प्रकार की दीनता है, पुन: आप राग-द्वेष से रहित हैं, बिना राग के कौन किस की आकांक्षा पूरी करता है, पुन: छायावाले वृक्ष के नीचे बैठकर छाया की याचना करना तो व्यर्थ ही है। वह तो स्वत: ही प्राप्त हो जाती है।" इस प्रकार जैन दर्शन में भक्ति का उत्स तो निष्कामता ही है। उसमें सकामता जो तत्त्व प्रविष्ट हुआ है, वह हिन्दू परम्परा और समसामयिक परिस्थितियों का प्रभाव है।

जैन परम्परा में स्तुति या स्तवन का महत्त्व तो इसी तथ्य से स्पष्ट हो जाता है, उसमें मुनि अथवा गृहस्थ के जो दैनिक षट् आवश्यक कर्तव्य बताये गए हैं, उसमें दूसरे क्रम पर स्तुति का निरुपण है। अत: हम कह सकते हैं कि श्रद्धा के साथ-साथ जैन धर्म में भक्ति का दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष स्तुति भी स्वीकृत रहा है।

स्तुति वस्तुत: उपास्य के गुणों का ही संकीर्तन है। जैन परम्परा में जो स्तुतियाँ उपलब्ध हैं, उनमें अरहंत, सिद्ध या तीर्थङ्कर के गुणों का संकीर्तन किया जाता है, किन्तु इसका मुख्य उद्देश्य तो आत्मा की शुद्ध-स्वभाव-दशा की उपलब्धि ही है। संत आनन्दघन जी लिखते हैं[१६] —

आपनो आतम भावजे, एक चेतननो अधार रे ।
अवर सवि साथ संजोगथी, ए निज परिकर सार रे ।।
प्रभु मुख थी इम सांभली, कहै आतमराम रे ।
थाहरै दरिसणे निस्तरयो, मुझ सीधा सवि काम रे।।

— शांति जिन-स्तवन

वंदन

वंदन का जैन परम्परा में मुनि व गृहस्थ दोनों के षट् आवश्यक कर्तव्यों में तीसरा स्थान है। पुण्य कर्म के विवेचन में भी नमस्कार को पुण्य कहा गया है। नमस्कार या वंदन तभी सम्भव होता है जब उसमें वंदनीय के प्रति पूज्य-बुद्धि या समादर भाव हो। इस प्रकार वंदन भी भक्ति का एक रूप है। जैनों के पवित्र नमस्कार मन्त्र में पाँच पदों को वंदन किया गया है। वे पाँच पद हैं— १. अरहंत, २. सिद्ध, ३. आचार्य, ४. उपाध्याय और ५. साधु। यहाँ विशेष रूप से ज्ञातव्य यह है कि इस नमस्कार मन्त्र में विशिष्ट गुणों के धारण करने वाले पदों को नमस्कार किया गया है। वंदन में मुख्य रूप से अरहंत, सिद्ध आचार्य, गुरु एवं अपने से पद योग्यता, दीक्षा आदि में ज्येष्ठ व्यक्ति को वंदनीय माना जाता है। वंदन का यह तत्त्व एक ओर व्यक्ति के अहंकार को विगलित करने का साधन है तो दूसरी ओर विनय-गुण का भी विकास करता है। यह सुस्पष्ट है कि अहंकार को सभी धर्म और परम्पराओं में दुर्गुण माना गया है। जैन धर्म में विनय को धर्म का मूल या आधार कहा गया है।

जैन परम्परा में इस प्रश्न पर भी गम्भीरता से विचार किया गया है कि वंदनीय कौन है? जैसा कि हम पूर्व में सूचित कर चुके हैं, जैन परम्परा में उपर्युक्त पाँच पद को धारण करने वाले व्यक्ति ही वंदनीय माने गये हैं। किन्तु साथ ही यह भी कहा गया है कि जिन व्यक्तियों में इन पदों के लिए वर्णित योग्यता का अभाव है वे वेश या पद पर स्थापित हो जाने मात्र से वंदनीय नहीं बन जाते। जैन परम्परा स्पष्ट रूप से शिथिलाचारियों के वंदन और संसर्ग का निषेध करती है, क्योंकि इनके माध्यम से समाज में दुष्प्रवृत्तियों को न केवल बढ़ावा मिलता है अपितु सामाजिक जीवन में भी शिथिलाचार आने की सम्भावना रहती है। अत: वंदन किसको किया जाय और किसे न किया जाय, इस सम्बन्ध में विवेक को आवश्यक माना गया है। वंदन कैसे किया जाय, इस सम्बन्ध में भी जैन परम्परा में विस्तार से चर्चा उपलब्ध होती है, साथ ही उसमें सदोष वंदन के ३२ दोषों का चित्रण भी हुआ है। विस्तारभय से उसकी चर्चा यहाँ अपेक्षित नहीं है।

जैनों के नमस्कार मन्त्र में जो पाँच पद वंदनीय हैं उनमें तीर्थङ्कर या अर्हत् के लिए केवल सिद्ध पद वंदनीय होता है। आचार्य के लिए अरहंत और सिद्ध ये दो पद वंदनीय हैं। इसीलिए प्राचीन अभिलेखों में सामान्यतया अरहंत व सिद्ध ऐसे दो पदों के नमस्कार का उल्लेख है। उपाध्याय के लिए अरहंत, सिद्ध एवं आचार्य, ये तीन पद वंदनीय है। जबकि सामान्य मुनियों के लिए अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और अपने से दीक्षा में ज्येष्ठ मुनि, इस प्रकार पाँचों ही पद वंदनीय होते हैं। इसी प्रकार गृहस्थ के लिए भी उपर्युक्त पाँचों ही पद वंदनीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माने गये हैं। जैन परम्परा में जो वंदन के पाठ उपलब्ध हैं उनके अनुसार वंदन में पूज्य-बुद्धि या सम्मान का भाव आवश्यक माना गया है। पूज्य-बुद्धि के अभाव में वंदन का कोई अर्थ नहीं रह जाता। स्तुति एवं वंदन दोनों में ही गुण-संकीर्तन की भावना स्पष्ट रूप से जुड़ी है।

पूजा, अर्चा और भक्ति

जैन परम्परा में मूर्ति-पूजा की अवधारणा अति प्राचीन काल से पायी जाती है। तीर्थङ्करों की प्रतिमाओं की पूजा का विधान आगमों में उपलब्ध है। परवर्ती काल में शासन-देवता के रूप में यक्ष-यक्षी एवं क्षेत्रपालों (भैरव) की पूजा भी होने लगी। जैन परम्परा में तीर्थङ्कर प्रतिमाओं का निर्माण ई०पू० तीसरी शती से तो स्पष्ट रूप से होने लगा था, क्योंकि मौर्यकाल की जिन-प्रतिमा उपलब्ध होती है। इससे पूर्व भी नन्द राजा के द्वारा कलिङ्ग-जिन की प्रतिमा को उठाकर ले जाने का जो खारवेल का अभिलेखीय साक्ष्य उपलब्ध है, उसके आधार पर यह माना जा सकता है कि मौर्य काल से पूर्व भी तीर्थङ्कर प्रतिमाओं का निर्माण प्रारम्भ हो गया था। किन्तु उस युग की जिन-प्रतिमा की पूजा-अर्चा की विधि को बताने वाला कोई ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। जैन परम्परा में पूजा-अर्चा के विधि-विधान एवं मन्दिर-निर्माण कला आदि को सूचित करने वाले जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे लगभग ई०सन् की प्रारम्भिक सदियों के हैं। जैन आगमों में स्थानाङ्ग, ज्ञाताधर्म एवं राजप्रश्नीय सूत्र में मन्दिर-संरचना एवं जिन-प्रतिमाओं की पूजन विधि के उल्लेख हैं। मथुरा के प्रथम शती के अङ्कनों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है, क्योंकि उनमें कमल-पुष्प ले जाते हुए श्रावक-श्राविकाओं को अंकित किया गया है। जो पूजा-विधि राजप्रश्नीयसूत्र और परवर्ती ग्रन्थों में उपलब्ध है उसके अनुसार मुनि और साध्वियाँ तो जिन-प्रतिमाओं की वंदना एवं स्तुति के रूप में भाव-पूजा ही करते हैं। मात्र गृहस्थ ही उनकी पूजा-सामग्री से द्रव्य पूजा करता है। गृहस्थ की पूजा विधि के अनुसार कूप अथवा पुष्करणी में स्नान करके वहाँ से कमल-पुष्प और जल लेकर जिन-प्रतिमा का पूजन किया जाता था। ज्ञाताधर्म द्रोपदी द्वारा मात्र पूजा करने का उल्लेख है। किन्तु राजप्रश्नीय में जिन-प्रतिमा की पूजा-विधि निम्न प्रकार से वर्णित है—

"तत्पश्चात् सूर्याभदेव चार हजार सामानिक देवों यावत् और दूसरे बहुत से देवों और देवियों से परिवेष्ठित होकर अपनी समस्त ऋद्धि, वैभव यावत् वाद्यों की तुमुल ध्वनिपूर्वक जहाँ सिद्धायतन था, वहाँ आया। पूर्व द्वार से प्रवेश करके जहाँ देवछंदक और जिन-प्रतिमाएँ थीं, वहाँ आया। वहाँ आकर उसने जिन-प्रतिमाओं को देखते ही प्रणाम करके लोममयी प्रमार्जनी (मयूर-पिच्छ की पूंजनी) हाथ में ली और प्रमार्जनी को लेकर जिन-प्रतिमाओं को प्रमार्जित किया। प्रमार्जित करके सुरभि गन्धोदक से उन जिन-प्रतिमाओं का प्रक्षालन किया। प्रक्षालन करके सरस गोशीर्ष चन्दन का लेप किया। लेप करके काषायिक सुरभि गन्ध से सुवासित वस्त्र से उनको पोछा। उन जिन-प्रतिमाओं को अखण्ड देवदूष्य-युगल पहनाया। देवदूष्य पहनाकर पुष्प, माला, गन्ध, चूर्ण, वस्त्र और आभूषण चढ़ाये। इन सबको चढ़ाने के अनन्तर फिर ऊपर से नीचे तक लटकती हुई लम्बी-लम्बी गोला मालाएँ पहनाईं। मालाएँ पहनाकर पञ्चरङ्गे पुष्पगणों को हाथ में लेकर उनकी वर्षा की और मांडने मांडकर उस स्थान को सुशोभित किया। फिर उन जिन-प्रतिमाओं के सन्मुख शुभ्र, सलौने, रजतमय अक्षत तन्दुलों (चावलों) से आठ-आठ मङ्गलों का आलेखन किया, यक्ष, स्वास्तिक यावत् दर्पण।

तदनन्तर उन जिन-प्रतिमाओं के सम्मुख श्रेष्ठ काले अगर, कुन्दरु, तुरूष्क और धूप की महकती सुगन्ध से व्याप्त और धूपबत्ती के समान सुरभिगन्ध को फैलाने वाले स्वर्ण एवं मणिरत्नों से रचित, चित्र-विचित्र रचनाओं से युक्त वैडूर्यमन धूपदान को लेकर धूपक्षेप किया तथा विशुद्ध अपूर्व अर्थ सम्पन्न अपुनरुक्त महिमाशाली एक सौ आठ छन्दों में स्तुति की। स्तुति करके सात-आठ पग पीछे हटा और फिर पीछे हटकर बायां घुटना ऊँचा किया और दायां घुटना जमीन पर टिकाकर तीन बार मस्तक को भूमि तल पर नमाया। नमाकर कुछ ऊँचा उठा तथा मस्तक ऊँचा करके दोनों हाथ जोड़कर आवर्तपूर्वक मस्तक पर अञ्जलि करके प्रभु की स्तुति की।

इससे यह फलित होता है कि मुनिजन जो सचित्त द्रव्य का स्पर्श नहीं करते थे, वे केवल वंदन या गुण-स्तवन ही करते थे किन्तु गृहस्थ पूजन-सामग्री में सचित्त द्रव्यों का उपयोग करते थे। यद्यपि उस सम्बन्ध में अनेक सतर्कताएँ बरती जाती थीं, जिनका उल्लेख ७-८वीं शती के जैन आचार्यों ने किया है। जैनों की पूजा-विधि की जब हम वैष्णव-विधि से तुलना करते हैं तब हम पाते हैं कि दोनों में काफी समानता थी। मात्र यही नहीं जैनों ने अपनी पूजा-विधि को वैष्णव परम्परा से गृहीत किया था। उनके आह्वान, विसर्जन आदि के मन्त्र न केवल हिन्दू परम्परा की नकल हैं, अपितु उनकी दार्शनिक मान्यताओं के विरोध में भी हैं। इसकी स्वतन्त्रचर्चा हमने अन्य लेख में की है (श्रमण १९९०) वीतराग परमात्मा की जिसने त्याग, वैराग्य व तप का उपदेश दिया उसकी पूजा, पुष्प, फल, नैवेद्य, धूप, दीप आदि से की जाय यह स्पष्ट रूप से अन्य परम्परा का प्रभाव है। चूँकि वैष्णव परम्परा में यह विधि प्रचलित थी, जैनों ने उन्हीं से गृहीत कर लिया और वे जिन-पूजा के अङ्ग मान लिये गए। वैष्णव परम्परा में पञ्चोपचार-पूजा व षोडषोचार-पूजा के उल्लेख मिलते हैं। जैनों में उसके स्थान पर अष्टप्रकारी-पूजा एवं सतरह भेदी पूजा के उल्लेख हैं। दोनों में नाम क्रम आदि देखने पर यह सिद्ध होता है कि जैन परम्परा में पूजा-विधि का विकास वैष्णव परम्परा से प्रभावित है। सामान्यतया भक्ति के क्षेत्र में विग्रह-पूजा की प्राथमिकता रही है और जैन परम्परा में भी चाहे किंचित परवर्ती क्यों न हों, किन्तु जिन-मूर्तियों की पूजा के रूप में इसका प्रचलन हुआ। जैन पूजा-पद्धति वैष्णव भक्ति परम्परा से न केवल प्रभावित रही, अपितु उसका अनुकरण मात्र है तथा जैन दर्शन की मान्यताओं के विरुद्ध है, इस तथ्य की पं०फूलचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री ने भी ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि में विस्तार से चर्चा की है। मैंने भी अपने लेख जैन धर्म के धार्मिक अनुष्ठान एवं कला तत्त्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में विस्तार से चर्चा की है। यहाँ इसका उल्लेख मात्र यह बताता है कि जैन परम्परा में भक्तिमार्ग का जो विकास है, वह हिन्दू परम्परा से प्रभावित होकर ही हुआ है।

जहाँ तक दास, सख्य एवं आत्म-निवेदन रूप भक्तियों के उल्लेख का प्रश्न है, अनीश्वरवादी जैन परम्परा में स्वामी-सेवक भाव से प्रभु की उपासना स्वीकृत नहीं रही है, क्योंकि उसमें भक्ति का लक्ष्य उस परमात्मदशा की प्राप्ति है जिसमें स्वामी-सेवक का भाव समाप्त हो जाता है। फिर भी साधकदशा में परमात्मा के प्रति पूज्य-बुद्धि जैन परम्परा में भी मान्य रही और उस रूप में जैन साधक अपने को परमात्मा का सेवक भी सूचित करता है। जैन भक्ति गीतों में अनेक स्थानों पर भक्त अपने को परमात्मा के सेवक के रूप में प्रस्तुत भी करता है। जैन संत आनन्दघन जी लिखते हैं[१७]—

एक अरज सेवक तणीरे, अवधारो जिनदेव ।
कृपा करी मुझ दीजिए रे, आनन्दघन पद सेव ।।
— विमल जिनस्तवन

फिर भी वैष्णव भक्ति परम्परा में जो सदैव ही परमात्मा का सेवक बने रहने की उत्कट भावना है, वह जैन परम्परा में नहीं पायी जाती। उसका आदर्श तो स्वयं परमात्मपद को प्राप्त कर लेना है। इसमें सर्वोच्च स्थिति में स्वामी और सेवक का भेद नहीं रह जाता। भक्त सदैव ही यह प्रार्थना करता है कि भक्त और भगवान के बीच का यह अन्तर कैसे समाप्त हो? सन्त आनन्दघन जी लिखते हैं[१८]—

पद्मप्रभु जिन तुझ मुज आंतरू रे, किम भांजै भगवंत।
कर्म विपाके कारण जोइने कोई कहे मतिमंत ।।

अन्त में उस अन्तर को समाप्त होने की पूर्ण आस्था रखते हुए भक्त कहता है[१९] —

तुझ मुझ अन्तर अन्ते भांजसे बाजस्यै मंगल तूर ।

जैन भक्ति का आदर्श वाक्य है—

वन्दे तद् गुणलब्धये —तत्त्वार्थसूत्र-मङ्गलाचरण।

इस प्रकार जैनधर्म में भक्ति का प्रयोजन परमात्मदशा को प्राप्त कर स्वामी-सेवक-भाव समाप्त करना ही रहा है।

इस प्रकार सख्यभाव से भक्ति के उल्लेख भी जैन परम्परा में मिल जाते हैं। फिर भी दोनों परम्परा में जो मौलिक अन्तर है उसे लक्ष्य में रखना ही होगा। जैन परमपरा में परमात्मा कोई एक व्यक्ति विशेष नहीं है जिससे सख्यभाव जोड़ा जा सके। अपितु प्रत्येक आत्मा का अपना शुद्ध स्वरूप ही उसका सखा या मित्र है।

इसी प्रकार वैष्णव परम्परा में परमात्मा को पति मानकर भक्ति की परम्परा भी पायी जाती है। प्रेम और विरह के रूप में भक्ति गीतों की परम्परा अति प्राचीन है। यद्यपि जैन परम्परा की साधना का मुख्य उद्देश्य तो राग-भाव से ऊपर उठना ही रहा है, फिर भी परमात्मा के प्रति अनन्य प्रेम का प्रकटन उसमें भी हुआ है। यद्यपि मेरी दृष्टि में यह सब वैष्णव भक्तिमार्गी परम्परा का ही प्रभाव रहा है। समयसुन्दर, आनन्दघन, यशोविजय, देवचन्द्र आदि जैन कवियों ने परमात्मा को पति मानकर अनेक भक्ति गीतों की रचना की है। आनन्दघन ने विरह-भक्ति के अनेक गीत लिखे हैं। उनके कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं[२०]—

ऋषभ जिणेसर प्रीतम माहरो, और न चाहूँ कंत ।
रीझ्यों साहब सैज न परिहरे, भांगे सादि अनन्त ।।
प्रीत सगाई जग मां सहु करै, प्रीत सगाई न कोय ।
प्रीत सगाई निरूपाधिक कही रे, सोपाधिक धन खोय।।

प्रीतम प्रान पति बिना, प्रिया कैसे जीवै हो ।
प्रान-पवन विरहा-दशा, भुअंगनि पीवै हो ।।
सीतल पंखा कुमकुमा, चन्दन कहा लावै हो ।
अनल न विरहानल यहै, तन ताप बढ़ावै हो।।

वेदन विरह अथाह है, पानी नव नेजा हो।
कोन हबीब तबीब है, टारै करक करेजा हो।।
गाल हथेली लगाई कै, सुरसिंधु हमेली हो।
अँसुवन नीर बहाय कै, सींचू कर बेली हो।।

मिलापी आन मिलावो रे, मेरे अनुभव मीठडे मीत।
चातिक पिउ पिउ करै रे, पीउ मिलावे न आन।
जीव पीवन पीउं पीउं करै प्यारे, जीउ निउ आन अयान।।

इस प्रकार जैन परम्परा में विरह व प्रेम को लेकर अनेक भक्ति गीतों की रचनाएँ हुई हैं। उसमें शुद्ध चैतन्य आत्मा को पति तथा आत्मा के समता रूप स्वाभाविक दशा को पत्नी तथा आत्मा की ही वैभाविक दशा को सौत के रूप में चित्रित कर आध्यात्मिक प्रेम का अनूठा वर्णन किया गया है।

नारद भक्तिसूत्र में प्रेम स्वरूपा भक्ति के निम्न ग्यारह प्रकारों का उल्लेख हुआ है—

१. गुणमहात्म्यासक्ति, २. रूपासक्ति, ३. पूजासक्ति, ४. स्मरणासक्ति ५. दास्यासक्ति, ६. सख्यासक्ति, ७. कान्तासक्ति, ८. वात्सल्यासक्ति, ९. आत्मनिवेदनासक्ति, १०. तन्मयतासक्ति, ११. परमविरहासक्ति।

इनमें भी रूपासक्ति, स्मरणासक्ति, गुणमहात्मयासक्ति और पूजासक्ति तो स्तवन, वंदन एवं पूजन के रूप में जैन परम्परा में भी पाई जाती हैं। शेष दास सख्य, कान्ता, वात्सल्य आदि को भी परवर्ती जैनाचार्यों ने अपनी परम्परागत दार्शनिक मान्यताओं के अनुरूप बनाकर प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परम्परा में भक्ति की अवधारणा स्तवन, वंदन, विनय, पूजा और सेवा इन-सभी पक्षों को समाहित किये हुए है। सेवा के क्षेत्र में भक्ति के दो रूप रहे हैं— एक तो स्वयं आराध्य आदि की प्रतिमा की सेवा करना, दूसरे गीता के युग से ही संसार के सभी प्राणियों को प्रभु का प्रतिनिधि मानकर उनकी सेवा को भी भक्ति में स्थान दिया गया। जैन परम्परा में भी निशीथचूर्णि (सातवीं शती) में यह प्रश्न उठा है कि एक व्यक्ति जो प्रभु का नाम स्मरण करता है, दूसरा जो ग्लान वृद्ध व रोगियों की सुश्रुषा करता है, उनमें श्रेष्ठ है? इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहा गया है कि जो वृद्ध, रोगी आदि की सेवा करता है, वह भगवान् की ही सेवा करता है। इस प्रकार भक्ति में सेवा की जो अवधारणा थी, उसने एक लोक-कल्याणकारी रूप ग्रहण किया, यही जैन भक्ति की विशेषता है।

---

१. सर्वार्थसिद्धि, संपा० पं०फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्रका० भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५५, ६/२४/१२।
२. कल्पसूत्रटीका, जिनविजयजी, प्रका०हीरालाल हंसराज जैन, जामनगर, १९३९, पृ० १२०।
३. गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर, २०१८, ४/३९।
४. आचाराङ्गसूत्र, संपा० मधुकरमुनि, प्रका० श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८०।
५. सूत्रकृताङ्गसूत्र, संपा०मधुकर मुनि, प्रका०श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८२, १/१४/२०।
६. ज्ञाताधर्मकथा, संपा० मधुकर मुनि, प्रका० श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १६/१४।
७. तत्त्वार्थसूत्र, विवे०सुखलाल संघवी, प्रका० पार्श्वनाथ विद्यापीठ शोध संस्थान, वाराणसी, १९७६, ६/२३।
८. आवश्यकनिर्युक्ति, संपा० बी०के०कोठारी, प्रका० रिलीजियस ट्रस्ट, बम्बई, १९८१, ४५१-४५३।
९. वही, ११९०-११११।
१०. श्रीमद्भागवत् , गीताप्रेस, गोरखपुर, २००६, ७/५/२३।
११. दशवैकालिकसूत्र, संपा० मधुकरमुनि, प्रका० श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९७४, ४/३४।
१२. उत्तराध्ययनसूत्र, संपा० मधुकर मुनि, प्रका० श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८४, २८/३५।
१३. वही।
१४. नियमसार, अनु० आर्यिका ज्ञानमती, वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला, हस्तिनापुर, १९८४, १३४-१४०।
१५. आवश्यकनिर्युक्ति, संपा० बी०के०कोठारी, प्रका०रिलीजिएस ट्रस्ट, बम्बई, १९८१, १११०।
१६. आनन्दघन ग्रन्थावली, संपा० महताबचन्द खारैड विशारद, प्रका० श्री विजयचन्द जरगड, जौहरी बाजार, ईमली वाले पंसारी के ऊपर, जयपुर, वि०सं० २०३१, शांति जिनस्तवन, १६/११,१२।
१७. वही, विमल जिनस्तवन— १३/१७।
१८. वही, पद्मप्रभ जिनस्तवन, — ६/१,२।
१९. वही, ६/६।
२०. वही, ऋषभ जिनस्तन, १/१,२ तथा वही पद २६, ४९-३२, ४४-३०।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org